



INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन के विविध स्वरूप

प्रो० (डॉ०) निशा झा

शोध-निर्देशक

विश्वविद्यालय संगीत विभाग

ति०मॉ०भा० विश्वविद्यालय

भागलपुर

शिवेश कुमार

शोधार्थी

विश्वविद्यालय संगीत विभाग

ति०मॉ०भा० विश्वविद्यालय

भागलपुर

सारांश

भारतीय शास्त्रीय संगीत के दो प्रमुख शैलियों में हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के अंतर्गत हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन का अपना विशेष महत्वपूर्ण इतिहास रहा है। इस वृहत ब्रह्म विद्या में यूँ तो सभी पक्ष गायन, वादन और नृत्य सदैव ही नवीनता से भरा हुआ है, परंतु आदिकाल से ही शास्त्रीय गायनों में भी अनेक विशिष्टता रही है, जिससे भारतीय संगीत सदैव समृद्ध होता रहा है। यह सर्वसम्मत है कि प्राचीन समय में एक ही संगीत संपूर्ण भारतवर्ष में प्रचारार्थ था, लेकिन 11वीं शताब्दी से बाह्य संस्कृतियों के आगमन पश्चात् यह दो धाराओं में बहने लगा। फलतः एक ने उत्तर भारत में अपना प्राबल्य स्थापित किया जिसे हिन्दुस्तानी संगीत कहा जाने लगा तथा दक्षिण क्षेत्रों में इसे कर्नाटकी या दक्षिणी संगीत पद्धति माना जाने लगा, लेकिन दोनों संगीत पद्धतियों का समूल और शास्त्रपक्ष एक ही माना गया है।

आज हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायनों में अनेक गायन शैलियाँ विद्यमान हैं जैसे— ध्रुपद—धमार, ख्याल, टप्पा—ठुमरी तराना, चतुरंग आदि किन्तु यह सभी गायन प्राचीन समय के सामगान, गंधर्वगान, जाति गायन, प्रबंध गायन आदि से ही विकसित हुआ है। समय के परिवर्तनशीलता के साथ शास्त्रीय गायनों में भी परिवर्तन हुआ है तथा इन गायनों में विविधताएँ भरी हुई हैं। कहीं कठोर शास्त्रपक्ष के नियम रहे हैं तो कहीं उन्हीं शास्त्र पक्षों में ढीलापन देकर उसे अत्यधिक सुगम बनाया गया है, जो जनाभिरुची के साथ निरंतर ही गतिशील बना हुआ है। उपरोक्त इन सभी गायनों का परिचय और उनके वृहत स्वरूप तथा विविध प्रकार अग्रलिखित है।

शब्द कुंजी :- भारतीय, शास्त्रीय, फलतः, समय, उपरोक्त

प्रस्तावना

हिन्दुस्तानी संगीत का शाश्वत स्वरूप वैदिक रूप से आधुनिक समय तक विभिन्न परिवर्तनों के साथ विकसित रहा है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ संगीत में बदलाव भी आरंभ से ही होता आ रहा है। वैदिक कालीन समय में गायन का प्रचलन हवन, यज्ञादि, मंत्रोच्चार, भजन-कीर्तन, पूजा-पाठ आदि अवसरों पर किया जाता था और उस समय गायन का मूल उद्देश्य शब्द व ध्वनि युक्त साधना द्वारा साकार भावनाओं को जनमानस के हृदय में जाग्रत करना होता था ताकि मनुष्य मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर हो। भारतीय संस्कृति की मान्यता अनुसार संपूर्ण ज्ञान का आधार वेदों को माना जाता है जहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद इन सभी वेदों में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है तथा सामवेद को पूर्णतया संगीत का आधार माना गया है। गायन शब्द को ऋग्वेद में गीर, गाथा, गातु आदि की संज्ञा दी गयी है तथा गायकों को गातुवित्तम कहा गया है। वहीं यजुर्वेद में गाथा, नाराशांसी, अथर्ववेद में गाथा, रैभ तथा सामवेद में तो गायन के विभिन्न प्रकारों, तत्वों आदि का वर्णन किया गया है। जैसे- ग्रामगेय गान, अरण्यक गान, ऊहगान तथा उह्यगान एवं स्वर सभी गायनों का प्राण माना गया है। इन सभी गायनों का प्रारंभ और अंत प्रणवाक्षर ध्वनि "ऊँ" से होता था और उदात्त, अनुदात्त व स्वरित जैसे तीन स्थूल स्वरों पर सप्त स्वर विकसित थे जिन्हें निम्नलिखित श्लोकों द्वारा भी समझा जा सकता है :-

उदात्ते निषाद गान्धार अनुदात्त ऋषभ धैवतो ।

स्वरित प्रभवा ह्येते, षड्ज मध्यम पंचमा ।।'

वैदिक कालीन गायनों में ही थोड़ा अग्रसर होने पर वैदिक गाथागान और लौकिक गाथा गान का प्रचलन भी समाज में था किन्तु इन दोनों गायनों का उद्देश्य भी मोक्ष संगीत की सार्थकता की ओर अग्रणीय थे। अब आगे चलकर इन दोनों गायनों को ही मार्गी संगीत और देशी संगीत कहा जाने लगा। हालाँकि इन दोनों संगीत में पृथकता तो थी परंतु ये भारतीय संगीत के परिवर्तनशीलता से संबंधित नहीं माने गए एवं इनमें कोई बाह्य विचारधारा आदि भी शामिल नहीं थे, हाँ नवीनता इनमें अवश्य ही विद्यमान थे जैसे :- एक गायन में शास्त्र अनुपालन के कठोर नियम मौजूद थे जिन्हें मार्गी संगीत कहा गया तथा दूसरे में भावाभिव्यक्ति द्वारा जन समुदायों का रंजन आवश्यक था जिन्हें देशी संगीत कहा गया।

अगर वैदिक संगीत को प्रथमतया देखा जाए तो उस समय भारतवर्ष में प्रमुख रूप से गंधर्वगान, सामगान, जाति-गायन व प्रबंध गायन 10वीं शताब्दी तक गाये जाते थे जिनका वर्णन कुछ इस प्रकार है :-

गंधवगान :- अत्यर्थमिष्ट देवानां तथा प्रीतीकरं पुनः ।

गन्धर्वाणामिदं यस्मात् तस्माद् गांधर्वमुच्यते ।।²

मनोनुकूल रूप से गाया जाने वाला गीत ही गंधर्व है और वीणा एवं वंश इन्हीं की विभिन्न शाखाएँ। यह सदैव ही गंधर्व जाति से संबंधित था जो मनुष्य और देवताओं के बीच की विलुप्त प्रजाति मानी गई। इन गंधर्वों के द्वारा स्वर तथा ताल से संयुक्त पदसमूह जो गीत सूचक है वह सार्थक शब्द समूह, स्वर तथा ताल में निबद्ध गीत गाये जाते थे। गंधर्व गान में स्वर का प्रमुख स्थान था और अन्य दो अंग इन्हीं पर आश्रित थे तथा स्वर तथा ताल से अनुप्रमाणित शब्द रचना ही गंधर्वगान कहे जाते थे। पं० शारंगदेव कृत संगीतरत्नाकर में उन्होंने वर्णित किया है कि जो स्वरादि से संबंधित है और मार्ग जानने वाला है, वह गंधर्व है जिसके लिए निम्नलिखित श्लोक भी वर्णित है :-

मार्ग देशीं च यो वेत्ति स गान्धर्वोऽभिधीयते ।

यो वेत्ति केवलं मार्गं स्वरादि स निगद्यते ।।

इस तरह उन्होंने गंधर्व गान को मार्गी संगीत माना जिसकी खोज ब्रह्मा ने की और भरत आदि जैसे महर्षियों ने इसे भगवान शंकर के समक्ष प्रस्तुत कर संपूर्ण भूलोक पर प्रचारित किया जो निश्चय ही अभ्युदय देने वाला था। साथ ही उस समय जो मार्गी और देशी के ज्ञाता थे वो गंधर्व कहलाए। गंधर्व गान का वर्णन महाकाव्य रामायण में भी हुआ है जहाँ भगवान श्रीराम के पुत्र लव-कुश को गांधर्व गायन की शिक्षा महर्षि बाल्मीकी द्वारा दी गई एवं जिस गुणों को उन्होंने बताया वे सभी गुण इन दोनों भाईयों में मौजूद थे। इस विषय पर कहा गया है कि दोनों भाई तंत्री के लय के साथ अपनी इच्छानुकूल श्वास लेते हुए, मधुर और रक्त गुणयुक्त, स्पष्ट अर्थों का बोध कराने वाला शब्दोच्चारण से संयुक्त गान किया करते थे जो मार्ग गान विधान युक्त गान था।

इस प्रकार महाभारत कालीन समय में भी गांधर्व गान की चर्चाएँ रही है जहाँ गेय प्रबंधों के अंतर्गत साम, गाथा तथा मंगलगीतियों का प्रामुख्य उल्लेख हुआ है। अर्जुन को गंधर्व विशारद माना गया तथा संगीत कला के लिए गंधर्व संज्ञाएँ थी लेकिन इनमें साम के अनान्य गीत, वादन, नर्तन का अंतर्भाव देखा जाता है। नारद, भरत, विश्वासु आदि को संपूर्ण गांधर्व के प्रतिष्ठिता के रूप में जाना जाता है इत्यादि।

सामगायन :- संपूर्ण भारतीय संगीत का मूल सामगान पर ही आधारित माना गया है। गुणीजनों ने वेदों को ज्ञान का भंडार माना है तथा साम को गान मानकर उसका विश्लेषण किया है।

वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार सा का अर्थ ऋक और अम का अर्थ स्वर माना गया है अर्थात् ऋक के साथ संबंधित स्वर प्रधान गायन।

सा च अमेश्चति तत्मान्नः सामत्वम्

तया सह सम्बद्धः अमो नाम स्वरः।

यत्र वर्तते तत्साम।।³

जिन मंत्रों की ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते थे उन्हें सामयोनि कहा जाता था। सामयोनि मंत्रों का आश्रय लेकर ऋषियों ने गान मंत्रों की चार प्रकार से रचना की— ग्रामगेय गान, आरण्यक गान, ऊह गान और ऊह्यगान। साम स्वरों में 7 स्वर, 3 ग्राम, 21 मूर्च्छना, 49 तान से ही सात स्वर सात तक के अंक स्वरों के स्वरूप को सूचित करने के लिए लिखे जाते थे। सामयोनि मंत्रों के ऊपर दिए गए अंको की व्यवस्था दूसरे प्रकार से होती थी जिन्हें सामगानों के रूप में ढालने पर अनेक संगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तन किये जाते थे तथा इन्हें सामविकार कहकर इनकी संख्या छः मानी जाती थी जो विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विरान, स्तोभ थे। इस साम गायन के पाँच भाग प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन होते थे जिसपर सामगायन किया जाता था। उसके पाँच अंग क्रमशः हुँ अग्नोई ओम आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये (उद्गीथ), नि होता सत्सि बर्हिषि ओम (प्रतिहार), निहोता सत्सि बर्हिषि (उपद्रव), बर्हिषि ओम (निधन) थे।

इस प्रकार सामगायन ऋग्वेद की ऋचाओं के आश्रय द्वारा किया जाता रहा जिसमें प्रधान अंग स्वर है तथा इसी के द्वारा मंत्रों से यज्ञ में देवताओं की स्तुति की जाती थी। सामवेद के दो प्रधान भागों में आर्थिक तथा गान के अंतर्गत संकलित ऋचाएँ आर्थिक गान कहलायी और गान संहिता में केवल गीत के बोल थे। सामगान में सप्तस्वर प्रयोग किये जाते थे जिनमें एक स्वर को आर्थिक, द्विस्वर को गायिक, त्रिस्वर को सामिक और चार स्वर प्रयोग को स्वरांतर कहा गया।

सामगायन करते समय कुछ ऐसे वर्ण या पद भी होते थे जो मूल सामयोनि ऋक में नहीं होते थे, इन्हें स्तोभ कहा जाता था तथा ये सार्थक और निरर्थक दोनों होते थे। सृष्टि के निर्माण पर गान की द्विविध परंपरा का प्रवर्तन हुआ एक गंधर्व जाति के गंधर्वों के लिए तथा दूसरा यज्ञादि करने वाले ब्राह्मणों के लिए जो उस समय सामगान किया करते थे।

गानाप्रभाषं संचक्रे गन्धर्वाणामशेषतः।

अन्येषां चैव विप्ताणां गानं ब्रह्मप्रभाषितम्।।⁴

जाति गायन :- मुख्य रूपों में अगर देखा जाए तो गंधर्व गान, सामगान और सामगान के साथ अग्रसर होने पर जाति गायन की प्रथा हमें स्वतः दिख जाती है, जिसका विवेचन विभिन्न पुस्तकों आदि के माध्यम से विद्वज्जों ने वर्णित किया है। जो श्रुति स्वर ग्रहादि के समूह द्वारा उपजी हो तथा जिनसे रस ज्ञान की प्राप्ति या आरंभ हो या रागों के जन्म का कारण हो वही जाति है। प्राचीन काल में रागों के स्थान पर जाति गायन की प्रथा प्रचलित रही थी। पंचम वेद मान्य नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भरतमुनि ने कहा है जो श्रुति और ग्रह स्वरादि के समुदाय से उत्पन्न है तथा जो राग जननी होती है, उन्हें ही जाति की संज्ञा प्राप्त है।

“स्वराएव विशिष्टा सन्निवेशाभाजो,

रलिमदृष्टाशुदयश्च जनयन्तो जातिरित्युक्तः।”⁵

वैदिक युग से ही ये जातियाँ प्रचलित थी और जनरंजक प्रिय धुन इनका आधार मान्य था। जातियों की गणना मार्ग-संगीत में की गई। भरत ने षड्ज ग्राम के सात और मध्य ग्राम की अठ्ठारह जातियाँ को वर्णित भी किया। इन्हीं 18 जातियों से सात शुद्ध जातियों का नामकरण सात स्वरों के नाम से हुआ। इन गायनों में नियमों का कठोर बंधन था। इन जातियों के ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, अलपत्व-बहुत्व, षाडव, औडत्व आदि का वर्णन पुस्तकों में उल्लिखित भी है।

प्रबंध गायन :- शास्त्रीय गायन शैलियों में प्रबंध गायन महत्वपूर्ण गायन शैलियों में मान्य है जिसका अर्थ है धातु और सीमा में बँधकर जो रूप बनता है प्रबंध कहलाता है। वास्तव में कोई भी शब्द रचना सार्थक और निरर्थक मानी जा सकती है, लेकिन प्रबंध का संबंध रचना से ही है। इनका विकसित स्वरूप ही बाद में गीत कहलाए। चूँकि कोई भी रचना पहले प्रबंध और फिर गीत होती है अतः प्रबंध को सरल रूप देकर गाना ही गीत कहलाया, परंतु प्रबंधों में अक्षर ज्यादा और गीतों में स्वर का फैलाव अधिक देखने को मिलता है। “ठाकुर जयदेव सिंह के अनुसार :-

Prabandh was a Vocal composition from a systemetic and organised giti (song) with sanskrit taxt's. The word Prabhandh literlly means any things well knit or well fitted.⁶

प्रबंध गायनों में धातु और अंगों के महत्व के साथ-साथ “प्रयोग” शब्द भी प्रयोग किया जाता था जिसका अर्थ अक्षरों से रहित गमकयुक्त आलप्ति में आलाप से था। इसकी चार धातुएँ उदग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग थे। इसके साथ ही इसके छः अंग स्वर, विरुद, तेन, पद, पाठ और ताल आदि थे। ताल और स्वर पूरे प्रबंध गायन में होता था तथा बांकी स्वर, तेन,

पाट, विरद, पद ये सभी प्रबंध के शब्द रचना से संबंधित थे और ताल अक्षर संबंधी नहीं था प्राचीन प्रबंध गायनों में विभिन्न श्रेणियों के बंदिशों में ताल-राग, छंद और वस्तु निर्मित की विचित्रता, विशेष अवसर और रस का प्रभाव था, किन्तु मध्य युग में शास्त्रों के परिवर्तन आने से नवीन प्रबंधों की रचना होने लगी। चूँकि प्राचीनतम भाषा संस्कृत थी और मुगलों के आगमन से उनकी भाषा में इस भाषा का कोई स्थान नहीं होने के कारण अन्य भाषाओं में बंदिश निर्मित होने लगी। रूपकाल्पति का स्थान फारसी शब्द ख्याल ने लिया और अन्य प्रबंधों में क्रमशः परिवर्तन होने लगे। उत्तर भारत में ध्रुपद की तुलना प्रबंध गायनों के साथ की जाती है जिसमें स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग की तुलना प्रबंध के अवयवों के साथ की जा सकती है और प्रबंध के ध्रुव और अंतरे के समान ध्रुपद के संचारी, आभोग के समान माना जा सकता है तथा इसके पहले गाये जाने वाले उदग्राह समय के गति के साथ विलुप्त होता चला गया।

वैदिक ऐतिहय द्वारा प्राप्त अध्ययन के आधार पर यह दृष्टवत है कि लगभग 10 वीं शताब्दी तक भारतीय संगीत शुद्ध और शाश्वत रहा, लेकिन 11वीं शताब्दी से परिवर्तनशीलता के कारण नव संस्कृतियों के आगमन, वैचारिक भिन्नता आदि के कारण एक ओर शुद्ध शास्त्र पक्ष निष्क्रिय किया जाने लगा वही दूसरी ओर नव-नव सम्मिश्रण ने उसे और भी समृद्ध किया जिसका श्रेय मुस्लिमों को जाता है। अब भारतीय संगीत में युनान, अरब, फारस जैसे देशों का संगीत भी मिश्रित होने लगा था। जहाँ इन वाह्य संस्कृतियों का प्रभुत्व स्थापित था उन क्षेत्रों को उत्तरी संगीत माना जाने लगा तथा जहाँ ये संस्कृति नहीं पहुँच पायी वह दक्षिणी संगीत से शोभायमान होने लगा। ऐसा माना जाता है कि उत्तर में मुगलों के आगमन पश्चात् उन्होंने अपने अधिकृत क्षेत्र को "हिन्दुस्तान" नाम दिया और यहाँ प्रचलित संगीत को "हिन्दुस्तानी संगीत" कहा। इसी शताब्दी में संगीत का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ संगीत रत्नाकर लिखा गया जो दोनों संगीत पद्धतियों का आधार ग्रंथ मान्य हुआ और इसी ग्रंथ में संगीत को गीतं, वाद्यं च नृत्यं त्रयं मुच्यते संगीतम कहकर परिभाषित भी किया गया।

अपने भौगोलिक संरचना और प्राकृतिक अवस्थाओं के कारण उत्तरी संगीत पद्धति पंजाब, हरियाणा, गुजरात, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, जम्मू, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश इत्यादि प्रांतों में प्रचलित है जिसे हिन्दुस्तानी संगीत भी कहा जाता है। इस संगीत अंतर्गत हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायनों को राग प्रधान गायकी मानी जाती है जिसमें थाट, राग, राग-रागिणी वर्गीकरण इत्यादि पाया जाता है। यह गायन प्रायः माधुर्य प्रधान होता है तथा इसमें भक्तिरस, श्रृंगार रस, एवं साहित्यिक रस मुख्यतः प्रचलन में रहा है। साथ ही वैशिष्ट्य रूप से ध्रुपद-धमार, ख्याल गायन,

टप्पा—ठुमरी, तराना, चतुरंग आदि गायकों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं जो शास्त्रपक्ष से संबंधित होते हैं। इनका संक्षेप विवरण कुछ इस प्रकार निम्नलिखित है:—

ध्रुपद—धमार गायन :- प्रबंध गायनों से उद्भावित होकर ध्रुपद का संबंध प्राचीन ध्रुवपद से है। प्राचीन कालीन गायनों में सौ से अधिक प्रबंध उपलब्ध थे तथा प्रबंध को ही ध्रुपद का जनक माना जाता है। मुख्यतः निबद्ध और अनिबद्ध रूपों में ये विभक्त थे। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर को इनका अधिष्ठाता माना जाता है जो स्वयं एक कुशल संगीतज्ञ थे और इनकी नवीनता में प्राचीनता की उपेक्षा नहीं की गई अपितु प्राचीन शास्त्रों को आधार मानकर ही समयोचित ढाँचे में प्रस्तुत किया गया। विभिन्न राग रागणियों और तालादि में बद्ध ध्रुपद गायनों में अत्यंत गंभीरता व भव्यता के साथ मृदंग और परवावज द्वारा इनमें संगत की जाती थी तथा अत्यंत कष्ट साध्यता के कारण मध्यकालीन राज दरबारों में इसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। ध्रुपद गायनों में चार खण्ड क्रमशः स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग होते थे। और नोम—तोम का आलाप, बंदिश, लयकारी और उपज इनके चार खंड थे। आगे चलकर इस गायन शैली की चार वाणियाँ प्रसिद्ध हुईं गोवरहार वाणी, डागुर वाणी, खण्डार वाणी और नौहार वाणी।

इसी के समानांतर धमार गायन का मूल अभिप्राय धम्माली से है जिसका शाब्दिक अर्थ उत्साहपूर्वक नाचना गाना से संबंधित रहा है। मूलतः उसे होली के अवसरों पर गाया जाता रहा है तथा इसमें ऊपज का अत्यधिक महत्व होता है। स्वर और शब्द के संयोग से नवीन उद्भावना ही ऊपज कही जाती थी। इसके दो प्रकार प्रकाश और गुप्त होते हैं जो गंभीर वातावरण से हटकर रंगीन वातावरण निर्मित कर देते हैं। ध्रुपद और धमार की गायन शैली मिलती—जुलती होने के कारण इनकी परंपरा हमेशा एक ही घरानों में चलती रही। ध्रुपद में बढ़त अंग की विशेषता रही तो धमार में लय—प्रधान इत्यादि।

ख्याल गायन:- ध्रुपद अंगों के विकसित स्वरूप से ही ख्याल गायन प्रचार में आया। प्राचीन शैलियों के रूपकालप्ति से विकसित ख्याल का अर्थ कल्पना से है जो अरबी भाषा से प्रभावित है। “प्रो० निशा झा” के अनुसार “उत्तर प्रदेश में नौटंकी की प्रस्तुति में वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है जिसमें ग्रामीण संस्कृतियों की झलक दिखती है तथा इसमें चंग वाद्य बजाकर गायन किया जाता है जिसे ख्याल कहते हैं। इसलिए ख्याल गायन शैली पूर्णतः स्वदेशी मान्य है।”⁷ वही डॉ० स्वतंत्र शर्मा के अनुसार अत्यंत श्रम—साध्य एवं लोकरूचि में परिवर्तन होने के कारण पद प्रधान ध्रुपद शैली का ह्रास हुआ और धीरे—धीरे स्वर प्रधान तथा उपेक्षाकृत सरल ख्याल गायन का विकास होने लगा। ख्याल फारसी शब्द है जो संस्कृत में ध्यान का पर्याय है तथा जौनपुर के

सुल्तान हुसैन शाह शर्की को इसका अविष्कारक माना जाता है। विभिन्न तत्कालीन परिवर्तनों के फलस्वरूप ख्याल दो रूपों में विलंबित ख्याल या बड़ा ख्याल और द्रुत अथवा छोटा ख्याल प्रचलन में है जिनमें एकताल, झपताल, तीनताल आदि तालों के साथ संगत की जाती है।

टप्पा एवं तुमरी गायन :- पंजाबी भाषा टप्पना शब्द से टप्पा की उत्पत्ति मानी जाती है जिसका अर्थ उछला या कूदना से होता है। इसकी प्रकृति लच्छेदार तान युक्त, चंचल, मुर्की, खटका आदि मान्य है। प्रारंभ से ही बोली की छोटी-छोटी दानेदार तानों में गूँथित कर सूक्ष्मासूक्ष्म स्वर में दाने पिरने पड़ते हैं तथा इनमें बोल आलाप का कोई स्थान नहीं होता है और स्वरों पर भी विशेष रूकावट नहीं होती किन्तु ख्याल और तुमरी की गंभीरताओं से यह गायन शैली अत्यंत ही दूर होती है। इसकी चाल ना ही अधिक धीमी तथा ना ही अधिक तीव्र होती है और यह हमेशा मध्य लयों में गाया जाता है, साथ ही रचना के मुखड़ों की अंदाज से निर्मित कर ताल के सम पर आने का विशेष महत्व होता है। जिन तालों का इसमें अधिक प्रयोग होता है वह झूमती रहती है जैसे—तीन—ताल, अद्दाताल, पंजाबी आदि। इस गायन की प्रस्तुतियों में विशेष अभ्यास के साथ दानेदार तान अधिक प्रयोग किये जाते हैं।

इसके विपरीत तुमरी हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन में श्रृंगार प्रधान गायन है जो आध्यात्मिक और लौकिक दोनों के भाव व रस के साथ परिपूर्ण होता है। अनेक रागों का सम्मिश्रण और प्रयोज्य रागों का प्रभाव लाना इसकी विशेषताएँ होती है। यह शास्त्र के जटिल नियम बंधन से मुक्त होकर अधिक जनप्रिय मान्य है। इनके दो भाग होकर कम शब्द द्वारा मधुर, कोमल, करुण, उत्सुक, विरह, निराशा भाव व रस के अनुकूल गायी जाती है। अवध के नवाब वाजिद अली शाह और शौरी मियाँ को इनका जन्मदाता माना जाता है। इसके दो प्रमुख भाग बंदिश या बोलबॉट और बोलबनाव होते हैं। ध्रुपद और ख्याल की तरह यह रागों में बँधा नहीं होता अपितु भाव और शब्द के अनुकूल नवीन स्वर संचार और नये-नये प्रयोग की दक्षता पर तुमरी गायन की सुलता निर्भर होती है। इसके लिए रागों की साधना, कंठ और स्वरों का लगाव पर प्रभुत्व तथा षड्ज चलन का अभ्यास अनिवार्य होता है।

तराना एवं चतुरंग :- ऐसा कहा जाता है कि मुस्लिम समुदाय को स्तुति मूलक स्वरों का ज्ञान न होने के कारण इनके द्वारा विकृत करके गाना गाने की शुरुवात की गई जो आगे चलकर तराना मान्य हुआ। फारसी भाषा के शब्द तरूनम से उद्भाषित होकर तराना अर्थहीन शब्द ता, ना, दानी आदि के प्रयोग से तराना गायन प्रचार में आया जिसका अविष्कार अमीर खुसरों ने किया। स्वर, ताल अवनद्ध बाधों के पाट तथा तेन अंगों से बनी हुई रचना को द्रुतलय में गाया जाता है जो

प्रायः ख्याल गायन के पश्चात् ही गाया जाता है। पेंचीदा स्वर संचारों का चमत्कारिक ढंग से गूँथित कर द्रुत लयों में गाना इसकी विशेषता है। वही मतंग के समय से ही चतुरंग में चार खंडों के चार राग, चार ताल और चार भाषा के पदों को गाने का प्रचलन रहा है जिसके पाँच अंग स्वर, तेन, ताल, पद और पाट से है जो वर्ण-स्वर प्रबंध के समतुल्य है। इसके गायन में चार अंग प्रथमतः बंदिश, तराना के बोल, सरगम तथा तबले या पखावज के बोल देखे जाते हैं।

उपशास्त्रीय :- भाव स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए राग के नियमों में लोच देकर शब्दों के भाव को स्वर द्वारा उभारा जाता है तथा शास्त्रीय पक्ष के नियमों में कुछ शिथिलता देकर शब्दाभाव उभारने का विशेष प्रयोग कर गाया जाता है। इनमें हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की सभी विशेषताएँ होती हैं किन्तु ये सभी ख्याल की तरह गंभीर न होकर नजाकत से इठलाते स्वर इनमें लगाये जाते हैं। जैसे— कजरी, चैती, होली आदि।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपरोक्त वर्णित संक्षेप तथ्यों के आधार पर यह देखा जा सकता है कि भारतीय संगीत की परंपरा अत्यंत विशाल है। इसमें गायन, वादन और नृत्य तीनों का वृहत स्वरूप विद्यमान है। केवल गायनों की ओर एक दृष्टि डाली जाए तो शास्त्रीय गायन आदि काल से ही वर्तमान तक प्रवाहित होता रहा है। मनीषियों ने प्राचीन शास्त्रीय गायनों में गंधर्वगान, सामगान, जातिगायन, प्रबंध गायनों को ही शुद्ध शास्त्रीय गायन माना जो 10वीं शताब्दी तक रहा परंतु मध्यकालीन समय, एक दृष्टि से दुर्यश रहा तो वहीं विभिन्न गायनों का उद्भव भी हुआ। एक ओर जहाँ कठोर से कठोर शास्त्र अनुपालन के नियम थे तो दूसरी ओर उसी में थोड़ा ढीलापन देकर नवीन शास्त्रीय गायनों का उद्भव हुआ। साथ ही मध्ययुग से पूर्णतः बाह्य संस्कृतियों ने अपने अधिकृत क्षेत्र को हिन्दुस्तान नाम दिया जिससे भारतीय शास्त्रीय संगीत में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन समाज में प्रस्तुत होने लगा। वर्तमान में मध्य युग से अबतक ध्रुपद-घमार, ख्याल, टप्पा, तुमरी, चतुरंग, तराना, उपशास्त्रीय आदि गायनों की प्रस्तुती होती ही आ रही है जिसे विद्वानों ने सदैव ही हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन से सुशोभित किया है तथा निरंतर ही यह और भी विकसित होता ही जा रहा है। इस गायन का प्रभाव केवल उत्तर भारत ही नहीं अपितु दक्षिण भारत में भी हुआ है और यह गतिशील होकर निरंतर ही समृद्ध होता जा रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- ❖ सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च एकेडेमी कलकता, प्रथम संस्करण 1996, श्लोक- 1, पृष्ठ संख्या- 109
- ❖ सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च एकेडेमी कलकता, प्रथम संस्करण 1996, श्लोक- 2, पृष्ठ संख्या- 306
- ❖ PARNJAPE, Dr. SARACGANDRA SRIDHARA, BHARTIYA SANGIT KA ITIHAS, THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE VARANASI- 1969 श्लोक- 3, पृष्ठ संख्या- 56
- ❖ PARNJAPE, Dr. SARACGANDRA SRIDHARA, BHARTIYA SANGIT KA ITIHAS, THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE VARANASI- 1969 श्लोक- 4, पृष्ठ संख्या- 202
- ❖ सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च एकेडेमी कलकता, प्रथम संस्करण 1996, श्लोक- 5, पृष्ठ संख्या- 363
- ❖ शर्मा, डॉ० स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, प्रतिभा प्रकाशन, पृष्ठ संख्या- 266
- ❖ कुमार, डॉ० सुरेन्द्र, शिल्प प्रवाह, पुस्तक भारती टोरंटो कनाडा- 2022, पृष्ठ संख्या- 09

